

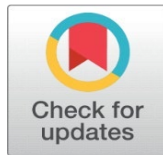
The concept of culture and the rereading of Hind Swaraj

संस्कृति की अवधारणा और हिंद स्वराज का पुनर्पाठ

Dr. Krishna Chand Pandey✉

डॉ. कृष्ण चंद पांडे

Assistant Professor, Center for Buddhist Studies, M.G.A.H.V., Wardha



Corresponding Author

Dr. Krishna Chand Pandey

डॉ. कृष्ण चंद पांडे

DOI:

<https://doi.org/10.29121/shodhkosh.v3.i1.2022.2654>

Funding: This research received no specific grant from any funding agency in the public, commercial, or not-for-profit sectors.

Copyright: © 2022 The Author(s). This work is licensed under a [Creative Commons Attribution 4.0 International License](#).

With the license CC-BY, authors retain the copyright, allowing anyone to download, reuse, re-print, modify, distribute, and/or copy their contribution. The work must be properly attributed to its author.

ABSTRACT

English: The concept of culture is explained through the concept of self. The self divides itself into the duality of subject and subjected. Its being a subject is being conscious, the culmination of which is its existence in the form of truth-consciousness-bliss where the difference of duality vanishes and the subjected or the person-oriented self dissolves and is established in the universal self.

Hindi: संस्कृति की अवधारणा आत्म की अवधारणा से व्याख्यायित होती है। आत्म अपने को विषय और विषयी के द्वैत में विभक्त करता है। उसका विषयी होना चैतन्य होना है जिसकी पराकाष्ठा उसके सत्-चित्त-आनंद रूप में अवस्थिति है जहाँ द्वैत का भेद मिटता है और विषयी ग्राहक अथवा व्यक्ति निष्ठ आत्म का विसर्जन करता है और सर्वात्म में प्रतिष्ठित होता है।

Keywords: Culture, Hind Swaraj, Concept



संस्कृति की अवधारणा आत्म की अवधारणा से व्याख्यायित होती है। आत्म अपने को विषय और विषयी के द्वैत में विभक्त करता है। उसका विषयी होना चैतन्य होना है जिसकी पराकाष्ठा उसके सत्-चित्त-आनंद रूप में अवस्थिति है जहाँ द्वैत का भेद मिटता है और विषयी ग्राहक अथवा व्यक्ति निष्ठ आत्म का विसर्जन करता है और सर्वात्म में प्रतिष्ठित होता है।

यह आत्म जब चैतन्यवत जगद-भाव में अपना सर्जन करता है तब वह संस्कृति के रूप में अमूर्तवत मूर्त होता है। इस प्रकार संस्कृति को चैतन्यवत/आत्म कहा जा सकता है। यह चैतन्य जहाँ भी प्रकट होता है वहाँ संस्कृति के चिन्ह दिखाई देते हैं। वह कभी समुदायिक सदाचार, कभी शास्त्र, कभी कला और कभी मूल्य के रूप में प्रकट होता है। यहाँ यह स्पष्ट करना होगा कि चैतन्य आत्म से पृथक कोई धर्म नहीं है अपितु वह अपने प्रकृति के अनुरूप विषयों का निर्माण करती है, उन्हें रूप देती है और इस क्रम में स्वयं रूपायित होती चलती है। परन्तु चेतना की विषयाकारता उसके मूल स्वरूप को आछन्न भी करती है। विषयों के नानात्व में उसका अपना स्वरूप तिरोहित होता जाता है। इस स्थिति में विषय को आत्म समझ लेने की भूल होती है अथवा यह भी एक विप्रतिपत्ति होती है कि सर्वथा कोई आत्म है ही नहीं। संस्कृति का कार्य यहीं महत्वपूर्ण हो जाता है कि वह बाह्य विषयों की ओर उन्मुख मनुष्य की चेतना को उसके आत्म अनुसन्धान में प्रवृत्त करें और स्वयं अपने भविष्य के लिए पाथेय सुनिश्चित करे। मनुष्य के आत्म की पर्येषणा, उसके चेतना का परिशीलन संस्कृति का प्राण तत्त्व है। इसी तत्त्व के सहारे उसका रूप अधिष्ठित होता है और वह सबको प्राणवंत करती है। मनुष्य की व्यक्तिगत पूर्णता की तलाश और उसकी प्राप्ति संस्कृति की भी पूर्णता की तलाश और उसकी प्राप्ति है। इसीलिए सारी संस्कृतियाँ सदा सार्वभौमता को सरकती हैं और पूर्णता को प्राप्त करती हैं।

भारतीय संस्कृति इन्ही भावों से परिभाषित हो सकती है अथवा होती है। इस संस्कृति के मूल उत्स और तत्त्वों का अनुसन्धान सही अर्थों में आत्म और विविधाकर जगत में पर्यवसित होती उसकी सत्ता का ही अनुसन्धान है। इस अनुसन्धान की दो दिशाएँ हो सकती हैं। पहली यह कि आत्म का अंतर्मुख परिशीलन करते हुए उसके मूल तत्त्व अथवा स्वभाव के अनुसन्धान और अवगति द्वारा मनुष्य की विकास यात्रा, उसके समाज और इतिहास का परिक्षण किया जाये। दूसरा समाज के मूल तत्त्वों की पहचान एवं उन तत्त्वों कि पूर्वा-पर व्यवस्था द्वारा, उसकी मूल्य अभिव्यक्तियों के माध्यम से, उसके आत्म तत्त्व या बीज तत्त्व तक पहुँचा जाये। इन दोनों ही दिशाओं से संस्कृति कि अवधारणा को समझा जा सकता है।

संस्कृति की अवधारणा को समझने का एक और पक्ष है। यह पक्ष संस्कृति के व्याख्या के अधिक प्रचलित ढंग से सम्बंधित है। यह ढंग आधुनिक काल में विज्ञान के अवतरण एवं वैज्ञानिक चिंतन तथा पद्धति के दबाव से व्युत्पन्न है। संस्कृति की इस प्रचलित व्याख्या के ढंग में एक प्रत्यक्षवादी आग्रह है। वह संसार की प्रत्येक वस्तु को, उसके भौतिक अस्तित्व को कार्य-कारण-श्रृंखला में डालकर समझना चाहती है अथवा समझती है। यद्यपि भौतिक विश्व की व्याख्या का यह निश्चय ही सटीक माध्यम है कि हम सापेक्षिक एवं परतंत्र-जड़ जगत को किसी आत्म तत्त्व से पृथक कर, उसे कार्य-कारण के एक सार्वभौम नियम में उपन्यस्त कर समझना चाहे। यह सच है कि हर कार्य के हेतु रूप में कोई कारण होता है, कार्य बिना कारण के नहीं होता परन्तु यह भी सत्य है कि कारण-कार्य का नियम सभी धर्मों पर सामान रूप से लागू नहीं होता। यह भी सत्य है कि विश्व जड़ वस्तुओं का संग्रह मात्र नहीं है न ही वह वैसी सापेक्ष और परतंत्र है जैसी हम उसकी कल्पना अथवा व्याख्या करते हैं। ऊपर यह कहा गया था कि चेतना ही जब जगद भाव में अपना सर्जन करता है तब वह संस्कृति का रूप धारण करता है। यहाँ चेतना के कई स्तर अथवा तल मानाने होंगे। उसका एक स्तर कार्य-कारण श्रृंखला से मुक्त और निरपेक्ष मानना होगा। चेतना का यह स्तर विज्ञान के आतंक से आतंकित, आधुनिक समाजविज्ञान की दृष्टि से पोषित किसी मनुष्य के प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकता अपितु यह लोक सम्मत, शास्त्र विहित, साधना से उपार्जित योगी-प्रत्यक्ष का ही विषय होता है। यहाँ यह कहना समीचीन होगा कि हम वही देखते हैं जो हम देखना कहते हैं अथवा हम उतना ही देखते हैं जितनी हमारी सीमा है। इस रूप में यदि किसी व्यक्ति का जगत से तादात्म्य सम्यक न हो और वह उसे सर्वथा भौतिक, सापेक्ष और परतंत्र माने तो वह उसे चेतना के स्तर अथवा तल अथवा यह कहे कि यह उसके चैतन्यता की कोटि पर निर्भर करेगा। दृष्टि की इन सीमाओं के बावजूद यदि किसी व्यक्ति की व्याख्या ठीक उसी प्रकार से की जाये जैसे हम किसी बाह्य वस्तु की करते हैं, भौतिक, सापेक्ष और पूर्णतः परतंत्र रूप में, तो वह निश्चय ही इसका विरोध करेगा। कोई भी व्यक्ति निश्चय ही न तो केवल भौतिक है, न सापेक्ष और न ही पूर्णतः परतंत्र। प्रत्येक व्यक्ति में

स्वातन्त्र्य- बोध और उसकी अभीप्सा रहती है। यह अभीप्सा पाशविक एवं दैहिक सीमाओं की ही स्वतंत्रता से सम्बंधित नहीं होता बल्कि वह अविद्या कर्म और भवचक्र से भी मुक्त होना चाहता है। उसकी स्वतंत्रता की यह खोज ही संस्कृति का विनिर्माण करती है।

उसके स्वतंत्रता की पर्येषणा उसके अपने स्थायी अस्तित्व की ही पर्येषणा है। अपने सत्ता, परमता और सहजता की पर्येषणा रही है। इसी क्रम में उसने अनेक तत्त्वों का विनिर्माण किया है, भाषा उनमें से एक तत्त्व है। यहाँ यह स्मरणीय है कि वाक् के रूप में चैतन्य का वरद हस्त सदा मनुष्य के साथ रहा है और मनुष्य ने उसका व्यापकतम उपयोग भी किया है। वाक कोई संस्थान नहीं है वह चैतन्य की ही स्फूर्ति है। मनुष्य अपने स्तर भेद, काल एवं सन्दर्भ भेद के अनुसार वाणी के रूप में उसका उपयोग करता है। यह भेद उसके स्वातंत्र्य बोध एवं संस्कृति से परिचालित होती है और उसे प्रभावित भी करती है। भाषा की ही तरह कला भी संस्कृति का निर्माण करती है, उससे परिचालित होती है, उसकी वाहक होती है। यहाँ यह कहने का अर्थ बस यही है कि मनुष्य की स्थायी अस्तित्व पर्येषणा, उसके सत् स्वरूप की पर्येषणा, उसके स्वतंत्रता की खोज ही संस्कृति में पर्यवसित होती है। यह पर्येषणा जितनी गंभीर और साधनात्मक होगी उसका बाह्य प्रकटीकरण उतना ही सशक्त और स्थायी होगा।

संस्कृति के विनिर्माणकारी मूल तत्त्वों में ज्ञान भी एक महत्वपूर्ण तत्त्व है। ज्ञान क्या है, वह कैसे पैदा होता है, उसके लक्षण क्या है, इसका निर्धारण निश्चय ही एक टेढ़ी खीर है किन्तु तो भी किसी संस्कृति का निर्धारक तत्त्व यही है और भारतीय संस्कृति के सन्दर्भ में तो यह निर्भात एवं निस्संदिग्ध है। इस सन्दर्भ में ज्ञान की कई परिभाषाएं उपस्थित की जा सकती हैं, उनकी मीमांसा की जा सकती है, उनके औचित्य-अनौचित्य पर विचार किया जा सकता है। परन्तु भारतीय संस्कृति के सन्दर्भ में उन परिभाषाओं का महत्व अत्यंत गौण है। भारतीय संस्कृति के सन्दर्भ में ज्ञान का मूल अर्थ आत्मसाक्षात्कार रहा है और यह कहना न होगा कि भारत में इस आत्मसाक्षात्कार की बड़ी पुरानी परम्परा प्राप्त होती है। यह परम्परा सिन्धु सभ्यता में उपलब्ध योगी प्रतिमा में भी देखी जा सकती है। पूरा का पूरा वैदिक साहित्य और उसके अनंतर बौद्ध एवं जैन साहित्य, महाकाव्य, पुराण-इतिहास सभी ज्ञान का अर्थ आत्मसाक्षात्कार ही करते हैं और उसे संस्कृति के मूल तत्त्व के रूप में अवधारित करते हैं। आत्मसाक्षात्कार रूपी ज्ञान का यह तत्त्व भारतीय संस्कृति में सतत प्रवहमान रहा है। उसे उसके मूल स्वरूप में प्रतिष्ठा एवं समाज के सम्यक् रूप से परिचालन के लिए शील के रूप में व्याख्यायित किया गया। समाधि को उसका एक अनिवार्य चरण बताया गया और काल की सीमा को तोड़ते हुए नागार्जुन और शंकर, कौटिल्य और मनु, कबीर और तुलसी, परम और महर्षि रमण अरविन्द और गाँधी उसकी सम्यक प्रतिस्था करते हैं।

इस आलोक में यह बहुत औचित्यपूर्वक कहा जा सकता है कि चैतन्य का अनुसन्धान भारतीय संस्कृति का मूल एवं निर्धारक तत्त्व है। वर्तमान समाजविज्ञानियों में चेतना को प्रायः व्यवहार का ही एक अविच्छेदय अंग माना जाता है और व्यवहार के निरीक्षण से ही उसके एक घटक के रूप में उसे समझने की चेष्टा होती है। इस दृष्टि की अपर्याप्तता अनेकधा उजागर की गयी है। दर्शन से पृथक् मानते हुए भी यहाँ पर समाजशास्त्र नैचरलिस्म को विज्ञानसंगत मानकर अपना लेता है। यदि यह दार्शनिक मतवाद सपाट देहात्मवाद नहीं है, तो देह परतंत्र आत्मवाद तो है ही। सभी धार्मिक एवं अधिकांश दार्शनिक परम्पराओं में आत्मा को देह से अलग माना गया है, और चेतना को आत्मा का स्वरूप अथवा शक्ति। अनेक आधुनिक बुद्धिवादी एवं आदर्शवादी दर्शनों में आत्मा की चर्चा ना होना पर भी चित्त का केंद्रवर्ती स्थान है और वही चेतनाधर्मी है। चेतना की पहली विशेषता उसके अंतर्गत दवनदात्मकता है जिसका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, एक ओर वह विषयी के रूप में सब विषयों से अलग है दूसरी ओर वह अपना तदात्म्य किसी ना किसी विषय के द्वारा निश्चित करती है। उसमें विषयात्मकता और अविषयता, विशयोन्मुखता और विश्योत्तिरंत, दोनों ही एक साथ मिलते हैं। विषयी के रूप में चैतन्य की अवस्थिति लौकिक अनुभव में मानव व्यक्तियों में ही देखी जाती है। विषयात्मक चैतन्य को संकेत-विद्ध अर्थ से पृथक् नहीं किया जा सकता। ये संकेत विद्ध अर्थ ही वाक् के रूप में भाषा एवं पारम्परिक शिक्षा द्वारा सामाजिक चेतना को निर्धारित करते हैं। इस प्रकार सामाजिक चेतना को विषयात्मक चेतना की समान-अर्थात्मक विषयों से परिभाषित समान चित्तता कहा जा सकता है। संखेप में चेतना की स्वतंत्रता, विषयिता, और आत्मपरमर्श उसे व्यक्तित्व देते हैं, मनुष्यता प्रदान करते हैं, उसकी

संपरेशनियता, संस्कार्यता, विषयात्मकता और परपेक्षता उसे समाजिकता देते हैं। इस रूप में मनुष्यत्व और समाजिकता एक ही चेतना के विवर्त अटवा प्रकाश हैं, एक व्यक्ति का लक्षण बनकर उसे अपना अधिष्ठान बनता है दूसरा समाज के रूप में प्रतिभासित होता है।

इस रूप में समाज को माँ लेने पर इसमें शायद कोई विवाद ना होगा कि समाज मनुष्य का ही एक रूप है और उसकी रचना एवं कार्य मानवीय चेतना अथवा आत्मबोध से जुड़े रहते हैं। साथ ही यह भी निर्विवाद है कि आशय के स्वरूप को सर्वसम्मति से निर्णित करना ठीक ना होगा, ना आत्मबोध में भ्रांति ही निरवकाश ही कही जा सकती है। तो भी यह तो कहा ही जा सकता है कि समाज का स्वरूप आत्मबोध-निरपेक्ष नहीं है, ना मानवस्वरूप को ही आत्मबोध का सर्वथा अविषय ही कहा जा सकता है। स्पष्ट ही समाज रचना के रहस्य का पता लगाने के लिए एक ही मुख्य द्वार है और वह है मानवस्वरूप का या आत्मबोध का विवेचन। आधुनिक दृष्टि से समाज के ज्ञान के सूत्र हैं- मनुष्य की विज्ञान विषयता, समजंतरिकतता और दृष्ट नियमों की अधीनता। इस विज्ञान गोचर पुरुष, लोकांतरिकतो, दृष्टधर्मनियत के सूत्रों के विपरीत आत्मान विद्धि, पुरुष एवेदम सर्वम, तानी धर्मानि प्रथमान्यासन- इन श्रुतियों में व्याप्त विचार सूत्रों को पारम्परिक समाजविज्ञान के सार्वभौम एवं सनातन सूत्र कहा जा सकता है

यह भी उतने ही औचित्यपूर्वक कहा जा सकता है कि इसकी अत्यंत प्राचीन एवं विशाल परम्परा उपलब्ध होती है। उस परम्परा ने इस संस्कृति को ऐसा स्थायी एवं ठोस स्वरूप एवं आधार दिया है कि तमाम झंझावातों से गुजरते हुए भी इस संस्कृति का केंद्र अविचल और रूप अविकल एवं अपरिवर्तित बना रहा है। इस बात का प्रमाण यह है कि पिछली दो शताब्दी के भीतर भारत में ऐसे अनेक महापुरुष हुए हैं जिन्होंने अपने लौकिक जीवन में आत्म साक्षात्कार कर संस्कृति के नियामक तत्व को गति प्रदान कि है। इस रूप में मनुष्य के आदिम काल से वर्तमान काल तक भारतीय संस्कृति कि भागीरथी के समान सतत प्रवाहमान रही है और प्रशस्तर होती गयी है।